अनुबोधन, खण्ड 2, अंक 1, मार्च 2026, पृष्ठ 194–207
ISSN: 3049-4184 (प्रिन्ट), 3108-1185 (ऑनलाइन)
https://doi.org/10.65885/anubodhan.v2n1.2026.019

हठयोगप्रदीपिका और पतंजलि के अष्टांग योग का दार्शनिक अंतर्संबंध : एक समालोचनात्मक अध्ययन

राजा राम*

प्राप्तिः 19 मार्च 2026 / संशोधितः 25 मार्च 2026 / स्वीकृतः 24 मार्च 2026 /
प्रकाशितः 31 मार्च 2026, जर्नल वेबसाइटः https://anubodhan.org

सारांश

भारतीय योग परंपरा में हठयोगप्रदीपिका और पातंजल योगसूत्र ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं, जिनमें योग के दार्शनिक तथा साधनात्मक स्वरूप का व्यवस्थित प्रतिपादन प्राप्त होता है। पातंजल योगसूत्र में "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" के सूत्र के माध्यम से चित्तवृत्तियों के निरोध को योग का मूल तत्त्व माना गया है तथा अष्टांग योग की क्रमिक साधना के द्वारा कैवल्य की प्राप्ति को उसका परम लक्ष्य बताया गया है। दूसरी ओर हठयोगप्रदीपिका में स्वात्माराम ने आसन, प्राणायाम, षटकर्म, मुद्रा, बन्ध, नादानुसंधान तथा कुण्डलिनी-जागरण आदि साधनात्मक उपायों के माध्यम से शरीर, प्राण और मन की शुद्धि तथा स्थिरता स्थापित करते हुए राजयोग की सिद्धि का मार्ग प्रतिपादित किया है।

प्रस्तुत शोध का उद्देश्य हठयोगप्रदीपिका और पातंजल अष्टांग योग के मध्य विद्यमान दार्शनिक अंतर्संबंध का समालोचनात्मक परीक्षण करना है। इस संदर्भ में दोनों ग्रंथों में प्रतिपादित योग-साधना की पद्धतियों, उनके दार्शनिक आधार तथा आध्यात्मिक लक्ष्य का तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन किया गया है। अध्ययन की प्रक्रिया मुख्यतः ग्रंथ-अध्ययन, तुलनात्मक पद्धति तथा दार्शनिक विश्लेषण पर आधारित है।

*शोध अध्येता, दर्शनशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

ई-मेल: rajarkush@gmail.com

इस अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि दोनों ग्रंथों में योग-साधना की विधियाँ भिन्न रूप में प्रतिपादित हुई हैं, तथापि उनका अंतिम उद्देश्य साधक को उच्चतर आध्यात्मिक अवस्था तक पहुँचाना ही है। इस प्रकार हठयोगप्रदीपिका में वर्णित साधनाएँ पातंजल अष्टांग योग के सिद्धांतों से अंतर्संबद्ध हैं और उन्हें उसके साधनात्मक पूरक के रूप में समझा जा सकता है, जो साधक को समाधि तथा आत्मानुभूति की दिशा में अग्रसर करती हैं।

मुख्य शब्द: पातंजल योगसूत्र, अष्टांग योग , हठयोगप्रदीपिका, योग साधना, राजयोग, समाधि, दार्शनिक अंतर्संबंध

प्रस्तावना

भारतीय दर्शन और साधना परंपरा में योग का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट रहा है। योग केवल शारीरिक अभ्यास या मानसिक एकाग्रता की पद्धति नहीं है, बल्कि यह मनुष्य के समग्र विकास तथा आत्मोन्नति का एक व्यापक आध्यात्मिक मार्ग है। प्राचीन काल से ही भारतीय मनीषियों ने योग को आत्मानुभूति, चित्तशुद्धि और जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन माना है। यही कारण है कि उपनिषदों, भगवद्गीता तथा अन्य योगग्रंथों में योग के सिद्धांत और साधना-पद्धतियों का विस्तृत निरूपण प्राप्त होता है।

भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक इतिहास में 'योग' एक ऐसी समन्वित परंपरा के रूप में प्रतिष्ठित है, जिसमें दर्शन, साधना, मनोविज्ञान, नैतिक अनुशासन और आत्मानुभूति का अद्वितीय संगम दिखाई देता है। योग केवल शारीरिक व्यायाम या मानसिक एकाग्रता का अभ्यास नहीं है, बल्कि यह मानव-चेतना के रूपांतरण की एक वैज्ञानिक और दार्शनिक प्रक्रिया है। वेदों, उपनिषदों तथा महाभारत जैसे ग्रंथों में योग की प्रारंभिक अवधारणाएँ विविध रूपों में मिलती हैं—कहीं ध्यान के रूप में, कहीं आत्मसंयम के रूप में, तो कहीं ब्रह्मानुभूति की साधना के रूप में।[1] किंतु इन बिखरी हुई अवधारणाओं को एक व्यवस्थित दार्शनिक प्रणाली के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय महर्षि पतंजलि को दिया जाता है।

योगसूत्र भारतीय दर्शन के इतिहास में एक अद्वितीय ग्रंथ है। अत्यंत संक्षिप्त—लगभग 195 सूत्रों—में रचित यह ग्रंथ योग के सिद्धांत और साधना, दोनों का सूक्ष्म प्रतिपादन करता है। *" योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" (1.2)* इस ग्रंथ का केन्द्रीय सूत्र है, जिसमें योग का लाक्षणिक और तात्त्विक अर्थ निहित है। यहाँ 'चित्त' मन, बुद्धि और अहंकार की समष्टि है तथा 'वृत्ति' उसके

[1] कठोपनिषद्, 2.3.10–11;

विभिन्न मानसिक परिवर्तन। पतंजलि के अनुसार जब इन वृत्तियों का निरोध होता है, तब *"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" (1.3)* — अर्थात् द्रष्टा (पुरुष) अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है।[2]

पतंजलि का योगदर्शन सांख्य-दर्शन के द्वैतवादी तत्त्वमीमांसा पर आधारित है। सांख्य के अनुसार 'पुरुष' शुद्ध, साक्षी, निरपेक्ष चेतना है, जबकि 'प्रकृति' त्रिगुणात्मक जड़ तत्त्व है। प्रकृति के विकारों में महत्तत्त्व, अहंकार और चित्त भी सम्मिलित हैं। अविद्या के कारण पुरुष स्वयं को प्रकृति के विकारों—विशेषतः चित्तवृत्तियों—से अभिन्न मान बैठता है। यही बंधन का कारण है। योग का प्रयोजन इस मिथ्या तादात्म्य का निराकरण कर पुरुष को उसके स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित करना है।

पतंजलि ने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अष्टांग-योग की क्रमिक साधना का प्रतिपादन किया —यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यह केवल अभ्यास की पद्धति नहीं, बल्कि एक नैतिक-आध्यात्मिक अनुशासन है, जिसमें बाह्य संयम से लेकर आंतरिक समाधि तक की यात्रा निहित है। इस प्रकार योगसूत्र में योग का दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक प्रणालीकरण अपने चरम पर दिखाई देता है।

इसके लगभग डेढ़ सहस्राब्दी बाद, मध्यकालीन भारत में योग की एक अन्य सशक्त धारा विकसित हुई, जिसे 'हठयोग' के नाम से जाना जाता है। इस परंपरा का प्रतिनिधि ग्रंथ है हठयोगप्रदीपिका, जिसकी रचना 15वीं शताब्दी के आसपास स्वात्माराम योगी द्वारा मानी जाती है। यह ग्रंथ नाथ-संप्रदाय की साधना-परंपरा से संबद्ध है और इसमें योग की व्यावहारिक प्रक्रियाओं का विस्तृत विवेचन किया गया है।

हठयोगप्रदीपिका में स्पष्ट कहा गया है—*"हठविद्या परं गोप्या योगिनां सिद्धिमिच्छताम्।"*[3] अर्थात् हठविद्या उन योगियों के लिए गोपनीय है जो सिद्धि की इच्छा रखते हैं। यहाँ 'सिद्धि' का आशय केवल चमत्कारिक शक्तियों से नहीं, बल्कि राजयोग या समाधि की उच्चतम अवस्था से है। ग्रंथ में यह भी प्रतिपादित है कि हठयोग के बिना राजयोग की सिद्धि कठिन है—अर्थात् हठयोग को राजयोग की पूर्वपीठिका या साधन के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

हठयोगप्रदीपिका की संरचना चार अध्यायों में विभक्त है—आसन, प्राणायाम, मुद्रा-बंध और समाधि। इसमें षटकर्म (धौती, बस्ती, नेती, त्राटक, नौली, कपालभाति) जैसी शारीरिक-शुद्धि

---

[2] योगसूत्र, 1.2–1.3.

[3] हठयोगप्रदीपिका, 1.11.

की प्रक्रियाएँ, नाड़ी-शोधन, कुण्डलिनी-जागरण, नादानुसंधान आदि का विस्तृत वर्णन है। यह स्पष्ट संकेत करता है कि मध्यकालीन योग परंपरा में शरीर और प्राण को साधना का महत्त्वपूर्ण आधार माना गया।

इतिहास की दृष्टि से पतंजलि और स्वात्माराम के बीच लगभग 1500 वर्षों का अंतर है। इस अवधि में भारतीय आध्यात्मिक परंपरा में तांत्रिक प्रभावों का विकास हुआ, जिनमें नाड़ी-चक्र सिद्धांत, कुण्डलिनी-शक्ति और सूक्ष्म-शरीर की अवधारणा प्रमुख हैं। हठयोगप्रदीपिका में इन तत्त्वों का स्पष्ट समावेश मिलता है, जो इसे पतंजलि की सांख्य-आधारित प्रणाली से भिन्न रंग प्रदान करता है।

यहीं से एक महत्वपूर्ण दार्शनिक प्रश्न उभरता है—क्या हठयोगप्रदीपिका पतंजलि के अष्टांग योग का दार्शनिक विस्तार है, या वह एक स्वतंत्र साधना-पद्धति है, जिसका लक्ष्य समान होते हुए भी उसका आधार भिन्न है? क्या हठयोग में वर्णित कुण्डलिनी-जागरण और नादानुसंधान की प्रक्रियाएँ पतंजलि के चित्तवृत्ति-निरोध के सिद्धांत से संगत हैं, अथवा वे किसी अन्य तात्त्विक पृष्ठभूमि की देन हैं?

प्रस्तुत शोध का केन्द्रीय प्रतिपाद्य इसी प्रश्न के समालोचनात्मक परीक्षण में निहित है। इसका उद्देश्य न तो किसी एक परंपरा को श्रेष्ठ सिद्ध करना है, और न ही कृत्रिम विरोध स्थापित करना; बल्कि यह देखना है कि भारतीय योग की इन दो महत्त्वपूर्ण धाराओं के मध्य दार्शनिक अंतर्संबंध किस प्रकार स्थापित होते हैं। संभव है कि दोनों की साधना-पद्धति और दार्शनिक व्याख्या में भिन्नता हो, किंतु अंतिम लक्ष्य—समाधि, आत्मानुभूति और बंधन-मुक्ति—में एक गहन साम्य विद्यमान हो।

अतः यह भूमिका केवल ऐतिहासिक परिचय नहीं, बल्कि उस वैचारिक भूमि का निर्माण है, जिस पर आगे का समालोचनात्मक अध्ययन आधारित होगा।

पतंजलि के अष्टांग योग की संरचना और दार्शनिक आधार

पतंजलि द्वारा प्रतिपादित अष्टांग योग भारतीय दार्शनिक परंपरा में एक सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परिपक्व साधना-पद्धति के रूप में प्रतिष्ठित है। योगसूत्र न केवल योग-दर्शन का आधारग्रंथ है, बल्कि यह साधना के व्यावहारिक अनुशासन को दार्शनिक गहराई के साथ प्रस्तुत करता है। लगभग 195 सूत्रों में संगठित यह ग्रंथ चार पादों—समाधि, साधना, विभूति और कैवल्य—में विभाजित है। अष्टांग योग का विस्तृत वर्णन साधनापाद (द्वितीय अध्याय) में प्राप्त होता है, जहाँ साधक के लिए क्रमशः बाह्य से आंतरिक की ओर उन्नयन का मार्ग निर्दिष्ट किया गया है।

पतंजलि के अनुसार योग का मूल लक्ष्य है—*"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"*[4] अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। जब यह निरोध सिद्ध होता है, तब *"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"*[5] —द्रष्टा (पुरुष) अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है। यहाँ द्रष्टा से आशय सांख्य-दर्शन के पुरुष से है, जो शुद्ध, निरपेक्ष, साक्षी-चेतना है। चित्त प्रकृति का विकार है, अतः उसमें उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ पुरुष के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित कर देती हैं। अष्टांग योग इन वृत्तियों को क्रमशः शांत करने की वैज्ञानिक प्रक्रिया है।

(1) यम

अष्टांग योग का प्रथम अंग यम है। ये सार्वभौम नैतिक नियम हैं—*अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।*[6] पतंजलि इन्हें "महाव्रत" कहते हैं, जो देश, काल और परिस्थिति से परे सर्वकालिक और सार्वभौमिक हैं।

अहिंसा केवल शारीरिक हिंसा का त्याग नहीं, अपितु वाणी और मन की सूक्ष्म हिंसा से भी निवृत्ति है। सत्य का अर्थ तथ्य-उच्चारण मात्र नहीं, बल्कि वचन और आचरण की एकरूपता है। अस्तेय का आशय केवल चोरी न करना नहीं, बल्कि अनधिकृत ग्रहण से भी विरति है। ब्रह्मचर्य आत्म-ऊर्जा के संरक्षण और संयम का प्रतीक है। अपरिग्रह अनावश्यक संग्रह-वृत्ति के परित्याग का संकेत देता है।

इन पाँच यमों से स्पष्ट होता है कि पतंजलि की साधना नैतिक शुद्धि से आरंभ होती है। मन की शुद्धि के बिना उच्चतर ध्यान-साधना संभव नहीं। इस प्रकार अष्टांग योग का नैतिक आधार अत्यंत सुदृढ़ है।

(2) नियम

नियम व्यक्तिगत अनुशासन के पाँच रूप हैं—*शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान।*[7] शौच बाह्य और आंतरिक पवित्रता का द्योतक है। संतोष मानसिक संतुलन और तृप्ति की भावना है। तप इंद्रियनिग्रह और आत्मसंयम की साधना है। स्वाध्याय शास्त्र-अध्ययन एवं आत्म-चिंतन है। ईश्वरप्रणिधान आत्मसमर्पण की भावना है, जो साधक के अहंकार को क्षीण करती है।

नियम साधना को आंतरिक दृढ़ता प्रदान करते हैं। यदि यम सामाजिक आचरण को शुद्ध करते हैं, तो नियम व्यक्तिगत चेतना को परिष्कृत करते हैं।

---

[4] पतंजलि, योगसूत्र, 1.2

[5] पतंजलि, योगसूत्र,1.3

[6] पतंजलि, योगसूत्र, 2.30–31

[7] पतंजलि, योगसूत्र,, 2.32

(3) आसन

"स्थिरसुखमासनम्"[8]—यह सूत्र आसन की संक्षिप्त परिभाषा देता है। आसन का उद्देश्य शरीर को ध्यान के योग्य बनाना है। यहाँ आसन जटिल शारीरिक कौशल नहीं, बल्कि स्थिर और सुखपूर्वक बैठने की अवस्था है।

पतंजलि के यहाँ आसन साधना का साधन है, साध्य नहीं। शरीर को संतुलित और स्थिर बनाकर चित्त की एकाग्रता के लिए उपयुक्त आधार तैयार किया जाता है। यह दृष्टि हठयोग की विस्तृत आसन-परंपरा से भिन्न होते हुए भी उसका मूलाधार है।

(4) प्राणायाम

आसन के पश्चात् प्राणायाम आता है—*"तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः"*।[9] अर्थात् श्वास-प्रश्वास की गति का नियमन प्राणायाम है।

प्राण और मन के बीच घनिष्ठ संबंध है। श्वास की गति शांत होने पर मन की चंचलता भी क्षीण होती है। प्राणायाम चित्त के आवरण को शिथिल करता है—"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्"।[10] इससे धारणा के योग्य मन तैयार होता है।

(5) प्रत्याहार

प्रत्याहार इंद्रियों का विषयों से प्रत्यावर्तन है—*"स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः"*।[11] यहाँ इंद्रियाँ बाह्य विषयों से हटकर चित्त के अधीन हो जाती हैं।

यह अवस्था साधना में महत्वपूर्ण मोड़ है, जहाँ साधक बाह्य जगत् से आंतरिक जगत् की ओर उन्मुख होता है।

(6) धारणा

"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा"[12]—चित्त को किसी एक देश (बिंदु) में बाँधना धारणा है। यह एकाग्रता की प्रारंभिक अवस्था है।

---

[8] पतंजलि, योगसूत्र, 2.46।

[9] पतंजलि, योगसूत्र, 2.49

[10] पतंजलि, योगसूत्र, 2.52

[11] पतंजलि, योगसूत्र, 2.54

[12] पतंजलि, योगसूत्र, 3.1

(7) ध्यान

"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्"[13]—वहीं (धारणा के विषय में) प्रत्ययों की अखंड धारा ध्यान है। यहाँ चित्त का प्रवाह निरंतर और अविच्छिन्न हो जाता है।

(8) समाधि

"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः"[14]—जब केवल ध्येय का प्रकाश रह जाता है और चित्त का स्वरूप लुप्त-सा हो जाता है, वही समाधि है।

पतंजलि समाधि के दो प्रमुख भेद बताते हैं—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात समाधि में विषय-ज्ञान की सूक्ष्म अवस्था बनी रहती है (सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार)। असम्प्रज्ञात समाधि में समस्त संस्कार भी शांत हो जाते हैं।

अंतिम लक्ष्य कैवल्य है—*"पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम्"*।[15] अर्थात् गुणों का अपने कारण में लय और पुरुष की पूर्ण स्वतंत्रता ही कैवल्य है।

पतंजलि का समस्त तंत्र सांख्य-दर्शन पर आधारित है। पुरुष और प्रकृति का द्वैत, त्रिगुण सिद्धांत, अविद्या का कारणत्व—ये सभी तत्व योगसूत्र में अंतर्निहित हैं। योग सांख्य का व्यावहारिक पक्ष है। जहाँ सांख्य ज्ञान के माध्यम से विवेक को लक्ष्य करता है, वहाँ योग साधना के माध्यम से उसी विवेक को प्रत्यक्ष अनुभव में परिणत करता है।

इस प्रकार अष्टांग योग केवल साधना-पद्धति नहीं, बल्कि एक दार्शनिक-मानसिक अनुशासन है। इसमें नैतिकता, शरीर-नियमन, प्राण-संतुलन और मानसिक एकाग्रता का क्रमिक विकास दिखाई देता है। शरीर यहाँ साधन है, मन माध्यम है और कैवल्य साध्य है।

हठयोगप्रदीपिका की साधना-पद्धति और दार्शनिक पृष्ठभूमि

पतंजलि के अष्टांग योग के पश्चात् भारतीय साधना-परंपरा में जो महत्वपूर्ण विकास दृष्टिगोचर होता है, उसका प्रतिनिधित्व हठयोगप्रदीपिका करती है। यह ग्रंथ सामान्यतः 15वीं शताब्दी में स्वात्माराम योगी द्वारा रचित माना जाता है और नाथ-संप्रदाय की साधना-धारा से सम्बद्ध है। यदि पतंजलि का योगसूत्र दार्शनिक संक्षिप्तता और मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता का उदाहरण है, तो

---

[13] पतंजलि, योगसूत्र, 3.2

[14] पतंजलि, योगसूत्र, 3.3

[15] पतंजलि, योगसूत्र, 4.34

हठयोगप्रदीपिका साधना की व्यावहारिकता, देह-साधन और ऊर्जात्मक प्रक्रियाओं का विस्तृत निरूपण प्रस्तुत करती है।

ग्रंथ के प्रारंभ में ही कहा गया है—*"हठविद्या परं गोप्या योगिनां सिद्धिमिच्छताम्।"*[16]यह कथन स्पष्ट करता है कि हठयोग को साधारण व्यायाम-पद्धति नहीं, बल्कि योग-सिद्धि का गूढ़ साधन माना गया है। 'हठ' शब्द का सामान्य अर्थ बलपूर्वक प्रयास किया जाता है, किंतु योग-परंपरा में इसका सांकेतिक अर्थ 'ह' (सूर्य/प्राण) और 'ठ' (चंद्र/अपान) के संयोग से है। इस प्रकार हठयोग का लक्ष्य प्राणशक्ति के द्वंद्व को संतुलित कर उसे एकाग्र एवं नियंत्रित करना है।

हठयोगप्रदीपिका चार अध्यायों में विभक्त है—आसन, प्राणायाम, मुद्रा-बंध और समाधि। यह संरचना ही दर्शाती है कि ग्रंथ की साधना-प्रक्रिया शरीर से प्रारंभ होकर सूक्ष्म चेतना की ओर उन्मुख होती है। यहाँ आसन केवल *"स्थिरसुखमासनम्"*[17] की संक्षिप्त परिभाषा तक सीमित नहीं है, बल्कि शरीर-शुद्धि, स्थैर्य और ऊर्जा-संतुलन का माध्यम है। सिद्धासन, पद्मासन, भद्रासन आदि को नाड़ी-शुद्धि और ध्यान-साधना के लिए अत्यंत उपयोगी बताया गया है।[5] इससे स्पष्ट होता है कि हठयोग में शरीर साधना का सक्रिय उपकरण है, न कि केवल ध्यान के लिए सहायक अवस्था।

प्राणायाम का विवेचन इस ग्रंथ में अत्यंत विस्तार से किया गया है। नाड़ी-शोधन को अनिवार्य माना गया है—*"यावद् नाड्यः शुद्ध्यन्ति तावत् प्राणायाम न कारयेत्।"*[18] अर्थात् नाड़ियों की शुद्धि के बिना प्राणायाम का अभ्यास पूर्ण फलदायी नहीं हो सकता। सूर्यभेदन, उज्जायी, सीतली, भस्त्रिका आदि विविध प्राणायामों के माध्यम से शरीर के दोषों का शमन, प्राण-शक्ति का संतुलन और मन की चंचलता का नियंत्रण संभव बताया गया है।

पतंजलि के अनुसार प्राणायाम से "प्रकाशावरण" क्षीण होता है, जबकि हठयोगप्रदीपिका में प्राणायाम को कुण्डलिनी-जागरण और चक्र-भेदन की तैयारी के रूप में भी देखा गया है। यहाँ स्पष्ट है कि हठयोग में प्राण केवल श्वास-प्रश्वास की क्रिया नहीं, बल्कि चेतना की गतिशील ऊर्जा है।

ग्रंथ का तृतीय अध्याय मुद्रा और बंध की साधनाओं को समर्पित है। महा-मुद्रा, महा-बंध, महा-वेध, उड्डीयान बंध, जालंधर बंध और केचरी मुद्रा जैसी प्रक्रियाएँ साधक के भीतर स्थित

---

[16] स्वात्माराम, हठयोगप्रदीपिका, 1.11

[17] पतंजलि, योगसूत्र, 2.46

[18] स्वात्माराम, हठयोगप्रदीपिका

सूक्ष्म ऊर्जा-प्रवाह को नियंत्रित करने के लिए वर्णित हैं।विशेषतः केचरी मुद्रा को अमृत-संरक्षण और चित्त-नियमन का साधन माना गया है।

हठयोगप्रदीपिका की एक विशिष्ट विशेषता कुण्डलिनी और चक्र-सिद्धांत का समावेश है। कुण्डलिनी को मूलाधार में स्थित सुप्त शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है, जो साधना के द्वारा जागृत होकर सुषुम्ना मार्ग से सहस्रार तक आरोहण करती है। यह अवधारणा तांत्रिक और नाथ-परंपरा से सम्बद्ध है। पतंजलि के योगसूत्र में इस प्रकार के ऊर्जात्मक तंत्र का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं मिलता। इससे यह संकेत मिलता है कि हठयोगप्रदीपिका का दार्शनिक आधार सांख्य-द्वैतवाद तक सीमित न होकर तांत्रिक-शैव परंपराओं से भी प्रभावित है।

समाधि का विवेचन चतुर्थ अध्याय में मिलता है। यहाँ नादानुसंधान—आंतरिक अनाहत ध्वनि पर ध्यान—को महत्त्वपूर्ण साधन बताया गया है। नाद की सूक्ष्मता के साथ चित्त की वृत्तियाँ क्रमशः लीन होती जाती हैं और साधक राजयोग की अवस्था को प्राप्त करता है। ग्रंथ स्पष्ट करता है कि हठयोग का परम लक्ष्य राजयोग या समाधि की सिद्धि है।

इस प्रकार हठयोगप्रदीपिका की साधना-पद्धति शरीर, प्राण और चित्त के समन्वित अनुशासन पर आधारित है। जहाँ पतंजलि का प्रतिपाद्य चित्तवृत्ति-निरोध के माध्यम से पुरुष का स्वरूप-साक्षात्कार है, वहीं हठयोग में प्राण-शक्ति के संतुलन और कुण्डलिनी-जागरण के माध्यम से उसी परमावस्था की प्राप्ति का प्रयास किया गया है। दोनों की पद्धतियाँ भिन्न होते हुए भी लक्ष्य में एकरूपता दिखाई देती है।

दार्शनिक दृष्टि से हठयोगप्रदीपिका योग को केवल मानसिक अनुशासन न मानकर देह-आधारित आध्यात्मिक प्रक्रिया के रूप में देखती है। शरीर यहाँ बाधा नहीं, बल्कि मुक्ति का साधन है। यह दृष्टि मध्यकालीन भारतीय साधना-परंपराओं में विकसित उस विचारधारा को प्रतिबिंबित करती है, जिसमें देह को दिव्य-शक्ति का अधिष्ठान माना गया।

अतः हठयोगप्रदीपिका पतंजलि के अष्टांग योग से पूर्णतः भिन्न नहीं, बल्कि उसका व्यावहारिक, ऊर्जात्मक और तांत्रिक विस्तार प्रतीत होती है। यद्यपि दार्शनिक पृष्ठभूमि में कुछ भिन्नताएँ हैं—विशेषतः कुण्डलिनी और चक्र-सिद्धांत के कारण—फिर भी अंतिम लक्ष्य समाधि ही है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हठयोगप्रदीपिका योग-परंपरा के विकास का मध्यकालीन चरण है, जिसमें दार्शनिक सिद्धांत साधना की जीवंत प्रक्रिया में रूपांतरित हो गए।

दार्शनिक अंतर्संबंध : एक समालोचनात्मक परीक्षण

पतंजलि के अष्टांग योग और हठयोगप्रदीपिका के मध्य दार्शनिक अंतर्संबंध का सम्यक् परीक्षण करने पर यह स्पष्ट होता है कि दोनों परंपराएँ भारतीय आध्यात्मिक साधना के एक ही व्यापक

प्रवाह की भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। एक ओर योगसूत्र चित्तवृत्ति-निरोध के माध्यम से पुरुष के स्वरूप-साक्षात्कार की दार्शनिक पद्धति प्रस्तुत करता है, तो दूसरी ओर हठयोगप्रदीपिका शरीर और प्राण को साधन बनाकर उसी लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है। भिन्नता साधना-प्रक्रिया में है, लक्ष्य में नहीं।

पतंजलि के अनुसार योग का सार है—*"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"*।[19] चित्त की वृत्तियाँ ही बंधन का कारण हैं; जब वे शांत होती हैं, तब *"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"*।[20] यहाँ द्रष्टा पुरुष है, जो सांख्य-दर्शन के अनुसार शुद्ध चेतना है। बंधन का कारण अविद्या है, जो पुरुष और प्रकृति के तादात्म्य को जन्म देती है। अतः योग का प्रयोजन विवेकख्याति के माध्यम से इस तादात्म्य का निरसन करना है।

हठयोगप्रदीपिका इस लक्ष्य को अस्वीकार नहीं करती; बल्कि वह इसे राजयोग की सिद्धि के रूप में स्वीकार करती है। ग्रंथ में स्पष्ट कथन है कि हठयोग राजयोग की प्राप्ति का साधन है। इससे यह सिद्ध होता है कि दोनों परंपराएँ विरोधी नहीं, पूरक हैं। अंतर केवल इस बात में है कि पतंजलि मानसिक-आध्यात्मिक अनुशासन से प्रारंभ करते हैं, जबकि हठयोग देह और प्राण के अनुशासन से।

दार्शनिक स्तर पर पतंजलि का आधार सांख्य-द्वैतवाद है। पुरुष और प्रकृति दो अनादि तत्त्व हैं। प्रकृति के विकारों में चित्त सम्मिलित है। चित्त की वृत्तियों के कारण पुरुष स्वयं को प्रकृति से अभिन्न मान बैठता है। अष्टांग योग के माध्यम से यह भ्रांति दूर होती है और अंततः कैवल्य की अवस्था प्राप्त होती है—*"पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम्"*।[21]

हठयोगप्रदीपिका का दार्शनिक आधार अपेक्षया बहुस्तरीय है। इसमें सांख्य के तत्वों के साथ-साथ तांत्रिक और नाथ-परंपरा की अवधारणाएँ भी समाहित हैं। कुण्डलिनी, चक्र, नाड़ी और प्राण-शक्ति की संकल्पनाएँ सांख्य में प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं हैं। इससे प्रतीत होता है कि मध्यकालीन योग ने दार्शनिक आधार का विस्तार किया और साधना को ऊर्जात्मक आयाम प्रदान किया।

यदि हम साधना-क्रम की तुलना करें तो पाएँगे कि पतंजलि का अष्टांग योग नैतिक अनुशासन (यम-नियम) से प्रारंभ होकर समाधि पर समाप्त होता है। यह बाह्य से आंतरिक की यात्रा है। हठयोगप्रदीपिका में भी क्रम आसन, प्राणायाम, मुद्रा, नादानुसंधान और समाधि तक पहुँचता है। अंतर यह है कि हठयोग में देह-शुद्धि और नाड़ी-शोधन पर विशेष बल है।

---

[19] पतंजलि, योगसूत्र, 1.2

[20] पतंजलि, योगसूत्र,, 1.3

[21] पतंजलि, योगसूत्र, 4.34

पतंजलि के यहाँ आसन का उद्देश्य ध्यान के लिए स्थिरता है—*"स्थिरसुखमासनम्"*।[22] इसके विपरीत हठयोगप्रदीपिका में आसन नाड़ी-शुद्धि और कुण्डलिनी-जागरण की तैयारी है। यहाँ शरीर केवल ध्यान का आसन नहीं, बल्कि आध्यात्मिक ऊर्जा का केंद्र है।

प्राणायाम के विषय में भी दोनों में समानता और भिन्नता दोनों हैं। पतंजलि कहते हैं कि प्राणायाम से "प्रकाशावरण" क्षीण होता है और चित्त धारणा के योग्य बनता है। हठयोगप्रदीपिका में प्राणायाम न केवल मानसिक आवरण हटाता है, बल्कि शरीर के दोषों का शमन, नाड़ियों की शुद्धि और प्राण-शक्ति का संतुलन भी करता है। इस प्रकार हठयोग में प्राणायाम का क्षेत्र अधिक व्यापक है।

कुण्डलिनी की अवधारणा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पतंजलि के ग्रंथ में कुण्डलिनी का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है, किंतु समाधि की प्रक्रिया में चित्त की सूक्ष्मता और संस्कार-क्षय का वर्णन मिलता है। हठयोगप्रदीपिका कुण्डलिनी-जागरण को उस सूक्ष्म रूपांतरण का प्रतीक मानती है, जिसके द्वारा साधक की चेतना उच्चतर स्तर पर आरोहित होती है। यह संभव है कि दोनों परंपराएँ भिन्न प्रतीकों के माध्यम से एक ही आध्यात्मिक अनुभव का निरूपण कर रही हों।

समाधि की अवधारणा में दोनों का गहन साम्य दिखाई देता है। पतंजलि सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि का विवेचन करते हैं। हठयोगप्रदीपिका नादानुसंधान के माध्यम से चित्त के लय का वर्णन करती है। दोनों में चित्त की वृत्तियों का निरोध और परम शांति की अवस्था का अनुभव समान रूप से लक्ष्य है।

दार्शनिक भिन्नता का एक सूक्ष्म बिंदु यह है कि पतंजलि का अंतिम लक्ष्य कैवल्य है—पुरुष की पूर्ण स्वतंत्रता। हठयोगप्रदीपिका में मुक्ति की भाषा अपेक्षया कम दार्शनिक और अधिक अनुभवप्रधान है। वहाँ समाधि और शिव-शक्ति के ऐक्य की अनुभूति का वर्णन मिलता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि हठयोग की पृष्ठभूमि शैव-तांत्रिक विचारधारा से भी प्रभावित है, जहाँ चेतना और शक्ति का ऐक्य केंद्रीय है।

समालोचनात्मक दृष्टि से कहा जा सकता है कि यदि पतंजलि का योग दार्शनिक परिपक्वता का आदर्श है, तो हठयोगप्रदीपिका साधना की व्यावहारिक परिपक्वता का। पतंजलि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में सूक्ष्म हैं; हठयोग शरीर और प्राण के अनुशासन में गहन है। दोनों की परस्पर पूरकता आधुनिक योग-अध्ययन में विशेष रूप से स्वीकार की गई है।

आधुनिक विद्वानों ने भी इस अंतर्संबंध को रेखांकित किया है। जॉर्ज फ्यूरस्टीन ने हठयोग को राजयोग का शारीरिक आधार कहा है।[23] इससे स्पष्ट है कि हठयोग को केवल शारीरिक व्यायाम

---

[22] पतंजलि, योगसूत्र, 2.46

[23] जॉर्ज फ्यूरस्टीन, योग परंपरा का इतिहास, हिंदी संस्करण।

के रूप में देखना उसके दार्शनिक गाम्भीर्य की अवहेलना होगी। अतः यह निष्कर्ष उभरता है कि हठयोगप्रदीपिका और पतंजलि का अष्टांग योग परस्पर विरोधी परंपराएँ नहीं हैं। वे एक ही आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर अग्रसर दो पूरक मार्ग हैं। पतंजलि का मार्ग मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक है; हठयोग का मार्ग देह-आधारित और ऊर्जात्मक। दोनों का संगम योग की समग्रता को व्यक्त करता है। इस प्रकार दार्शनिक अंतर्संबंध का अध्ययन यह संकेत देता है कि योग-परंपरा स्थिर नहीं, बल्कि गतिशील और विकासशील रही है। पतंजलि से लेकर हठयोगप्रदीपिका तक की यात्रा भारतीय आध्यात्मिक चिंतन की निरंतरता और नवोन्मेष दोनों को दर्शाती है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि पातंजल योगसूत्र में प्रतिपादित अष्टांग योग और हठयोगप्रदीपिका में वर्णित हठयोग भारतीय योग परंपरा की दो महत्वपूर्ण साधना-धाराएँ हैं, जो अपने-अपने स्वरूप में भिन्न दिखाई देते हुए भी अंततः एक ही आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर उन्मुख हैं। पातंजल योग में योग का मूल तत्त्व चित्तवृत्तियों के निरोध के रूप में प्रतिपादित किया गया है, जिसके माध्यम से साधक अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करता है और अंततः कैवल्य की अवस्था को प्राप्त होता है। इसके लिए पतंजलि ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के रूप में एक क्रमबद्ध साधना-पद्धति का प्रतिपादन किया है, जो साधक के नैतिक, मानसिक और आध्यात्मिक अनुशासन को क्रमशः विकसित करती है।

दूसरी ओर हठयोगप्रदीपिका में योग-साधना का व्यावहारिक पक्ष अधिक विस्तार से सामने आता है। यहाँ शरीर, प्राण और चित्त के समन्वित अनुशासन के माध्यम से साधना का मार्ग प्रस्तुत किया गया है। आसन, प्राणायाम, षटकर्म, मुद्रा-बंध, नादानुसंधान तथा कुण्डलिनी-जागरण जैसी प्रक्रियाओं के द्वारा साधक के शरीर और प्राण को शुद्ध तथा संतुलित किया जाता है, जिससे उसकी चेतना क्रमशः उच्चतर आध्यात्मिक अवस्था की ओर अग्रसर होती है। इस प्रकार हठयोग में शरीर को साधना का अवरोध न मानकर मुक्ति की प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण साधन माना गया है।

इस तुलनात्मक अध्ययन से यह तथ्य सामने आता है कि यद्यपि दोनों ग्रंथों की साधना-पद्धतियों में भिन्नता है, तथापि उनके अंतिम उद्देश्य में गहन साम्य विद्यमान है। पातंजल योगसूत्र में जहाँ चित्त के नियंत्रण और एकाग्रता पर विशेष बल दिया गया है, वहीं हठयोगप्रदीपिका शरीर और प्राण के अनुशासन को उसी लक्ष्य की प्राप्ति का आधार बनाती है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो पातंजल योग मानसिक और दार्शनिक अनुशासन का मार्ग प्रस्तुत करता है, जबकि हठयोगप्रदीपिका उस साधना को व्यावहारिक एवं देहाधारित आधार प्रदान करती है।

दार्शनिक दृष्टि से भी यह देखा जा सकता है कि हठयोगप्रदीपिका पातंजल योग की मूल भावना का खंडन नहीं करती, बल्कि उसे एक व्यावहारिक दिशा प्रदान करती है। हठयोग में वर्णित विविध साधनाएँ अंततः साधक के मन को स्थिर करने और उसे समाधि की अवस्था तक पहुँचाने में सहायक होती हैं। इस प्रकार हठयोग को पातंजल अष्टांग योग का विरोधी न मानकर उसकी साधनात्मक पूरक परंपरा के रूप में समझना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

समालोचनात्मक दृष्टि से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारतीय योग परंपरा का विकास एक निरंतर और समन्वित प्रक्रिया के रूप में हुआ है। विभिन्न कालों में विभिन्न आचार्यों ने योग की साधना को अपने अनुभव और परंपरा के अनुसार व्यक्त किया, किंतु उनका अंतिम लक्ष्य मानव-चेतना का परिष्कार, आत्मानुभूति और परम शांति की प्राप्ति ही रहा। इस संदर्भ में पातंजल योगसूत्र योग के दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आधार को स्पष्ट करता है, जबकि हठयोगप्रदीपिका उस सिद्धांत को साधना की जीवंत प्रक्रिया में रूपांतरित करती है।

अतः यह कहा जा सकता है कि हठयोगप्रदीपिका और पातंजल अष्टांग योग के मध्य संबंध विरोध का नहीं, बल्कि गहन अंतर्संबंध और पूरकता का है। दोनों मिलकर भारतीय योग परंपरा की उस समग्र दृष्टि को प्रकट करते हैं, जिसमें शरीर, प्राण और चित्त का समन्वित विकास साधक को समाधि और आत्मानुभूति की उच्चतम अवस्था तक पहुँचाने का मार्ग प्रशस्त करता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

- आर्य, हरिहरानन्द. (1983). पातंजल योगदर्शन. वाराणसी: चौखम्भा संस्कृत संस्थान।
- परमहंस स्वामी अनंत भारती, (1999)। *महर्षि पतंजलीकृत योग दर्शन (योग प्रभाकर भास्य सहित)*। स्वामी केशवानंद योग संस्थान, दिल्ली
- दतार, पं. हरिकृष्णशास्त्री। (2014)। *योग : सिद्धान्त एवं साधना* । वाराणसी: चौखम्भा विद्याभवन।
- सेन, डॉ कमलेश 'हंसा' (2001)। कठोपनिषद् [टिप्पणी व भाष्य सहित]. न्यू बुक सोसाइटी ऑफ इंडिया, नई दिल्ली।
- दिगम्बरजी, स्वामी, एवं झा, पीताम्बर. (1998). हठयोगप्रदीपिका. लोनावला: कैवल्यधाम।
- कुवलयानन्द, स्वामी. (2002). योगासन. लोनावला: कैवल्यधाम।
- सरस्वती, स्वामी सत्यानन्द. (2008). आसन, प्राणायाम, मुद्रा और बन्ध. मुंगेर: बिहार योग विद्यालय।
- विवेकानन्द, स्वामी. (2001). राजयोग. कोलकाता: अद्वैत आश्रम।
- व्यास. (2012). श्रीमद्भगवद्गीता. गोरखपुर: गीताप्रेस

- राधाकृष्णन, सर्वपल्ली. (1953). प्रधान उपनिषद. लंदन: जॉर्ज ऐलन एंड अनविन।
- पतंजलि. (2009). योगसूत्र. न्यूयॉर्क: नॉर्थ पॉइंट प्रेस।
- जॉर्ज फ्यूरस्टीन, योग परंपरा का इतिहास, हिंदी संस्करण।
- Feuerstein, G. (1998). The yoga tradition: Its history, literature, philosophy, and practice. Prescott, AZ: Hohm Press.

Copyright © 2026 Author(s). Published by Siri Research Foundation. This is an open access article distributed under the Creative Commons Attribution International License (CC BY 4.0).